International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 29-11-2021, Accepted: 15-12-2021, Published: 30-12-2021
Volume 3, Issue 4, 2021, Page No. 14-15

ज्ञान और अंतः ज्ञान–एक चिंतन दृष्टि

ज्योत्स्ना आनंद
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
प्रस्तुत शोध–आलेख का ध्येय अखिल भारतीय जनमानस में व्याप्त भक्ति एवं संत समाज के प्रति आदर भाव का प्रकटीकरण एवं संत समाज के सामाजिक प्रदेय का लिपिबद्ध प्रस्तुतीकरण मात्र है । शोध–आलेख का प्रमुख उद्देश्य संत समाज की व्यष्टि से समष्टि की यात्रा का वर्णन एवं लोकोत्तर अवस्था के प्रति समाज में जागरूकता का प्रतिपादन सोदाहरण प्रस्तुत करना है ।

मूल शब्दः वेद, संत, लोकोत्तर, व्यष्टि, समष्टि, समाज, कवि

प्रस्तावना

संत कवियों ने न केवल बाह्याडंबरों, रूढ़ियों, सामाजिक विकृतियों का विरोध किया है अपितु वेद पुराणों को बिना समझे उद्धृत करने वालों का भी निरोध किया है और इसीलिए प्रमाण के रूप में भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने समस्त पुस्तकीय ज्ञान मात्र की जोरदार शब्दों में उपेक्षा की है। मध्यकालीन समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था। समाज के तथाकथित नेता इस वर्गीकरण को हानिकारक मानते भी नहीं थे, अपितु भिन्न–भिन्न धर्म ग्रंथों के आधार पर उसे आवश्यक व धर्म संगत बताकर पारस्परिक अनैक्य की भावना को और भी पुष्ट कर रहे थे। धर्म के ठेकेदारों ने स्वनिर्मित पाखण्ड व आडंबरों का उत्तरदायित्व भी ग्रंथों पर डाल दिया था। इन धर्मग्रंथों के बल पर केवल सामाजिक विशृंखलता ही नहीं बढ़ रही थी बल्कि इनमें कथित बाह्याचारों व विधानों के कारण लोगों का समय व्यर्थ के झमेलों में ही लगा रहता था। विभिन्न धर्मों के मठाधीश अपनी–अपनी इच्छानुसार अपने–अपने धर्मग्रंथों की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे थे और विभिन्न धर्मावलंबी भी अविचारी होकर उन व्याख्याओं को परम सत्य मानकर उन पर विश्वास करने लगे थे। यह अंधविश्वास सामाजिक विषमता का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण बन रहा था। यह अंध भक्ति एवं साथ ही साथ नई–नई धार्मिक सत्ताओं एवं पोथियों के प्रपंचों की संख्या भी उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती जा रही थी। इन सब बुराइयों को देखकर ही संत कवियों ने पोथी–पत्रों का खंडन किया। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं – "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"

नामदेव कहते हैं –

'वेदहिं झूठा, शास्त्रहिं झूठा, भक्त कहाँ से पछानी।'

इसी कोरे पुस्तक–ज्ञान की निरर्थकता को जताते हुए कबीर काजियों से कहते हैं – तुम्हें पढ़ते–पढ़ते तो अनेक दिन बीत गए किंतु वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाया –

काजी कौन कबेब बषाने।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते,
गीते एकै नहिं जाने।

इन कवियों की स्पष्ट मान्यता थी कि केवल वेद–पुराणों के पढ़ने से कुछ नहीं होता। जब तक उनके अर्थों के मर्म को न समझा जाए, तब तक पार नहीं उतरा जा सकता। संतों का विश्वास था कि तत्कालीन समाज में व्याप्त पाखण्डों को प्रोत्साहित करने में शास्त्रों की गलत व्याख्याओं का पर्याप्त हाथ था। पण्डितों व मुल्लाओं ने अपने 'शासन' को चलाने के लिए 'वेद कतेब' का आश्रय लिया था।
उनके इस कुत्सित प्रभाव को दूर करने के लिए अबोध जनता को ग्रंथों की दलदल से बाहर निकालना परमावश्यक था। तत्कालीन धर्मग्रंथों की इन बहुत–सी भ्रामक बातों ने तथाकथित ज्ञानी पण्डितों को भी उलझा रखा था।
वे उनकी व्याख्या तो करते थे, किंतु भीतरी बातों से स्वयं भी अनभिज्ञ थे। इसी प्रकार षड्–दर्शन और छयानवें पाखण्डों के आधार पर तर्क–वितर्क करने वाले भी सदा व्याकुल रहा करते थे। न उनकी संशय–निवृत्ति होती थी और न ज्ञान की उपलब्धि –

'छह दरसन छयानवे पाखण्ड, आकुल किन्हुँ न जाना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मन ही मन न समाना।'

सत्य तो यह है कि चाहे काजी हो, चाहे पण्डित, वे अर्थ की गहनता को जानने का कभी प्रयास ही न करते थे। जब वे विचार ही नहीं करते थे, तो मर्म क्या समझेंगे? सत्यज्ञान के लिए सद्गुरु की परम आवश्यकता है – 'गुरु बिन होहि न ज्ञान।'
गुरु नानकदेव जानते थे कि लोग वेद और पुराण की पुस्तकें पढ़कर अन्य लोगों को सुनाते हैं। कई लोग बैठकर सुनना ती उत्तम भी मानते हैं परंतु वास्तव में, सद्गुरु के बिना उनके हृदय

कपाट बंद रहते हैं –

वाचहिं पुस्तक वेद पुराना। इक वहैसुनै सुनावे काना।
अजगर कपट कहौ क्यूं खुले। बिना सतगुरु तन न पाइआ।।

ऐसे पण्डित चाहे चार युग पर्यन्त वेद पढ़ते रहें, किंतु उनके आंतरिक मल की निवृत्ति नहीं हो सकती –

पंडित मैल न चुकई, जे वेद पड़े जुग चारि।
त्रैगुण माइआ मूलु है, विचि हउमें नामु विसारि।।

ये लोग पढ़ते–पढ़ते थक गए परंतु पार न पा सके। कागज काले कर–करके तो कई लोग मर गए लेकिन मर्मज्ञ तो एक अक्षर प्रियतम के नाम का पढ़ते हैं और उसे प्राप्त कर लेते हैं, जिसे पा जाने के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रहता –
कागद कारे करि मुये, केते वेद पुरान।

एकै आखि़र पीव का, दादू पढ़ै सुजान।

अनेक ग्रंथों को पढ़कर शब्द ज्ञान प्राप्त कर लेना तो सुगम है किंतु सच्चे व अनुभूतिजन्य ज्ञान को प्राप्त करना न केवल समय–साध्य है अपितु कष्ट–साध्य भी है। कोरे शास्त्रज्ञान में निष्णात तो बहुत लोग मिलते हैं परंतु राम–नाम में दक्ष लोगों की संख्या अत्यल्प है –

पंडित ज्ञानी बहु मिले, वेद ग्यान परवीन।
दरिया ऐसा न मिला, राम नाम परवीन।

प्रो० (डॉ०) सूर्यप्रसाद दीक्षित अपने साहित्येतिहासिक ग्रंथ में लिखते हैं – "उस समय शोषण के दो प्रमुख केंद्र थे – पहला दिल्ली सल्तनत और दूसरा हिंदू और मुस्लिम पुरोहित वर्ग की व्यवस्था। कबीर ने इन दोनों को नकारा।"
वेद–पुराण पढ़ने वालों ने तो अपना व्यापार जमाने के लिए दुकानें खोल रखी थीं। स्वयं ज्ञान–शून्य हेाते हुए भी औरों को उपदेश देते थे। संभवतः उनका लक्ष्य पार्थिक वस्तुओं की प्राप्ति ही था। वास्तविक वस्तु तो सदैव उनकी आँखों से ओझल ही रही। अतः निश्चय ही समझ लेना चाहिए कि संत कवियों द्वारा की जाने वाली ग्रंथ निंदा का तात्पर्य उनका अनादर करना नहीं था। इनका उद्देश्य तो केवल उन ग्रंथों से प्राप्त ज्ञान के दुरुपयोग से था। इसीलिए जो व्यक्ति उन ग्रंथों के ज्ञान का वास्तविक मर्म न जानकर अर्थ का अनर्थ कर रहे थे, ये पुस्तकें उनके लिए निरर्थक बोझ मात्र ही थीं –

वेद कतेब दुइ फंद पसारा।
एहि फंदा महँ जीव बेचारा।

वास्तव में वेद गंभीर सागर के समान हैं। उनसे रत्न निकालने की शक्ति किसी विरले में ही होती है। यह काम तो कोई 'मरजीवा' ही कर सकता है। नीचे, नीचे और नीचे की थाह लेने की सामर्थ्य बड़ी विद्या, बड़े धैर्य, बड़े साहस, बड़े अनुभव, बड़ी दूरदर्शिता की मांग करती है। कोई बड़ा प्राणायामी, एकाग्रचित्त सामाधिस्थ ही उसे 'थाह' सकता है। यह वेद समुद्र अपार भी है। पार जाने के लिए भी उक्त गुणों की आवश्यकता निश्चय ही है –

वेद बहुत विस्तार है, नानाविध के शब्द।
पढ़ते पार न पाइये, जे बीते बहु अब्द।

इसीलिए कबीर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वेदादि ग्रंथों को असत्य नहीं कहना चाहिए। झूठा तो वह है, जो इन पर उचित ढंग से विचार नहीं कर पाता –

वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारै।

इन्हीं कारणों से ये कवि प्रत्येक बात को अनुभव की कसौटी पर कसना चाहते थे। स्वानुभव पुस्तक ज्ञान से अधिक श्रेयस्कर होता है और संत कवि इस पुण्य–मार्ग के सफल पथिक थे। इस कठिन डगर पर चलने वालों के लिए केवल बाहरी प्रकाश सहायक नहीं हो सकता था। उन्हें तो 'आपदीपों भव' मंत्र का निरंतर जाप और उसके रहस्य का हृदयंगम कर स्वानुभव को प्रमुखता देनी थी। उन्हें तो अपनी आँखों से देखना था। इसे ही तो दर्शन कहते हैं। यही तो साक्षात्कार है। अपनी भीतर की आँखों से देखना चर्मचक्षु नहीं, ज्ञान चक्षुओं से देखकर उसे कहना। वही तो साक्षी है, उसी की बात में तो 'वजन' है। वही तो दावे से ललकार कर कह सकता है। तभी तो कबीर ललकारते हैं –

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता हूँ आखिन देखी।

यह देख मनीषी उदयप्रताप सिंह कृति 'संतों के संवाद' में लिखते हैं – "कबीर शास्त्र के विरुद्ध नहींय स्वसंवेद्य ज्ञान के पक्षधर थे।"
'आंखिन देखी' की परख में दोष कहाँ? अतएव इसे इन कवियों ने सर्वोत्तम मार्ग बताया। प्रत्येक बात को स्वानुभूति की कसौटी पर कसने वाले महापुरुषों का 'कागद लेखी' बातों के प्रति उपेक्षा–प्रदर्शन स्वाभाविक ही था।
मर्मज्ञ विद्वान यज्ञदत्त शर्मा ''भक्ति साहित्य के आधार स्तंभ" में लिखते हैं – "कबीर, जायसी, तुलसी व सूर ने भक्ति भावना से ओत–प्रोत जिस साहित्य की रचना की वह भक्तिकाल का श्रेष्ठतम साहित्य प्रमाणित हुआ जिसने तत्कालीन समाज की शुभकर्मों व भगवद्भक्ति में लगने की प्रेरणा व मनोबल प्रदान किया।"
संत कवि जन–जन को इसी साधना–मार्ग में दीक्षित करना चाहते थे। यह ज्ञान, यह साधना जब भाव से, भक्तिभाव से समन्वित हो जाती है तो ऐसे जन वास्तव में संत हो जाते हैं, नवनीत हृदय हो जाते हैं। नवनीत उपमान भी उनके लिए कमतर होता है। नवनीत तो अपने ताप से पिघलता है, जबकि संत तो दूसरे के ताप से, दूसरे के दुख से द्रवित होता है – 'संत हृदय नवनीत समाना ...।' यही तो संत स्वभाव है जिसकी कामना तुलसीदास करते हैं। फिर इसे संत संज्ञा दें या वैष्णव ही कहें, कोई अंतर नहीं! नरसी तभी तो पुकार उठते हैं –

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जानै रे
परदुखे उपकार करे जोइ, मन अभिमान न आने रे।

निष्कर्ष

कोरा ज्ञान, कोरी साधना का प्रतिफल अहंकार है। वेद ज्ञान (वेद का अर्थ ही ज्ञान) वेदविहित मार्ग का अवलंबन (अर्थात् साधना) और अंतस्य–भाव तथा भक्तिभाव मिलकर संपूर्ण बनता है। यह संपूर्णता, समग्रता ही तो भारतीय संस्कृति का चरम है। विचारेंगे तो संपूर्णता की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रथम संस्करण 2002, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ–40
2. हिंदी साहित्येतिहास की भूमिकारू मध्यकाल (भाग–2), प्रो० (डॉ०) सूर्यप्रसाद दीक्षित, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ–57
3. संतों के संवाद, उदयप्रताप सिंह, प्रथम संस्करण 2019, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृष्ठ–24
4. भक्ति साहित्य के आधार स्तंभ, यज्ञदत्त शर्मा, प्रथम संस्करण, 1984, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका–भाग